

“महाकवि कालिदास के साहित्य में आश्रम”

प्रदीप दुबे*

कालिदास की कृतियों में वन्य आश्रमों एवं उनके निवासी ऋषियों, मुनियों और विद्यार्थियों के प्रति आदर के दर्शन होते हैं। ये आश्रम सामाजिक मर्यादाओं के प्रतिष्ठापक और नियामक थे। भारतीय समाज में प्राप्त उच्च नैतिकता और जीवन की पवित्रता के उत्स आश्रम ही थे। नागरिक कोलाहल से दूर वन्य उटजों में रहते हुए ये आश्रमी, फलों और नीवार से उदरपूर्ति करते, मृगों के साहचर्य में जीवन बिताते और विद्यार्थियों को मार्ग दर्शन के साथ विद्याध्ययन कराते थे। कुलपति अथवा आचार्य इनके प्रमुख होते थे जो सामान्यतया सपत्नीक होते थे। प्रातः सायं यज्ञ के धूम से उनका वातावरण सुरभित रहता था। कालिदास ने अपनी कृतियों में कई स्थानों पर आश्रम का वर्णन किया है जो प्रायः यह बतलाने के लिए हुआ है कि आश्रम राजाओं के लिए वन्द्य है। उनकी प्रतिष्ठा के लिए भी आश्रमों का सम्मान आवश्यक है। यदि राजा समाज का पिता है तो आश्रम मुनि राजाओं के पिता। इसीलिए राजा लोग आश्रम के बाह्य द्वार पर पहुंचते ही अपना सारा तामझाम वहीं छोड़कर नंगे पांव बिना छत्र, चमर और राजकीय महार्ध वस्त्रों, अत्यन्त विनय के साथ भीतर प्रवेश करते थे। आश्रमों की सीमा के भीतर रथ का प्रवेश तथा आखेट सर्वथा वर्जित था।

आश्रमों का महत्व — कालिदास के आश्रम तपोदीप्त है। उनमें उदासी या मालिन्य की छाया नहीं है। सभी वर्णों के लोग जीवन का प्रथम काल विद्योपार्जन के लिए आश्रमों में व्यतीत करते थे। विद्यार्थी प्रातः से ही विभिन्न नैतिक विधियों के द्वारा चेतन संचारण करने लगते थे। दिलीप की नींद तो विद्यार्थियों के प्रातरध्ययन स्वरो ने ही खोली थी

“तच्छिष्याध्ययन निवेदितावसानां संविष्टः

कुशशयने निशां निनाय।”¹

आयु का मध्य भाग घर पर बिताकर राजर्षिगण पुनः आश्रम में लौट आते थे। इसीलिए कण्व शकुन्तला को सान्त्वना देते हुए कहते हैं—

“भूत्वा चिराय चतुरन्त—मही—सपत्नी दौष्यन्तिम प्रतिरथं तनयं निवेश्य।

शोधछात्र, संस्कृत विभाग डॉ. हरीसिंह गौर वि.वि.

भर्ता तदर्पित कुटुम्ब भरणे सार्धं, शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेस्मिन्।”²
विलासी राजा पुरुरवा भी पुत्र प्राप्ति के पश्चात् वन गमन का निश्चय करता है—

“अहमपि तव सूनावद्य विन्यस्य भारं

विचरित—मृग—यूथात्याश्रयिष्ये वनानि।”³

और इक्ष्वाकुवंशीय राजा तो पुत्र को राज्य सौंपकर सपत्नीक आश्रम वास को चले जाते थे। रघुवंशियों में इसके अपवाद बहुत कम थे।

“अथ स विषयत्यावृत्तात्मायाथाविधि सूनवे।

नृपति ककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।

मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये

गलित—वयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्।।”⁴

कालिदास ने रघुवंश में प्रारंभ में रघुओं के जिस वैशिष्ट्य “वार्धके मुनिवृत्तीनाम्” का उल्लेख किया है उसका स्मरण वह बार—बार दिलाते चले जाते हैं।

समाज संरक्षक आश्रम — ये आश्रम ही थे जिनकी छाया में विपद् ग्रस्त राज्य—लक्ष्मी सदा आश्रय पाती रही। और जिनके सानिध्य में अनेक चक्रवर्ती सम्राटों के शैशव ने तुतलाना सीखा। माताओं—परित्यक्ता माताओं का पाविष्याभिषेक भी इन्हीं आश्रमों में होता रहा और यहीं उनके बालकों के जातकर्म से लेकर गोदान तक के संस्कार सम्पन्न हुए। पुरुरवा और उर्वशी के पुत्र आयुष का शरणदाता च्यवनाश्रम था जिसके विषय में आश्रमवासिनी तापसी ने बताया— सुनिये महाराज पैदा होते ही इस चिरंजीव आयुष को उर्वशी ने कुछ सोचकर मेरे पास न्यास के रूप में रख दिया और कुलीन क्षत्रिय के जो जात कर्म आदि संस्कार होते हैं वे सब पूज्य च्यवन ने किये। इसे पढ़ाया लिखाया और धनुर्वेद में भी प्रशिक्षित किया। इस विद्या का ही फल था कि उसने स्वल्प आयु में ही अपने वाण से उड़ते हुए ग्रध को मार गिराया—

“कुमारस्यायुषो बाणः संहर्ताः द्विषतायुषाम्।”⁵

यही स्थिति शुकुन्तला की हुई। पति द्वारा परित्याग के अनन्तर महर्षि मारीच के आश्रम में उसे शरण मिली। मारीच ने उसके पुत्र भरत के जात—कर्मादि संस्कार किये। वह दुष्यन्त से कहते हैं—

“वत्स; कच्चिदभिनन्दितस्त्वया विधिवदस्माभिरनुष्ठित—

जातकर्मा पुत्र एष शाकुन्तलेयः।”⁶

यही बात सीता के सम्बन्ध में हुई। राम के द्वारा निर्वासित गर्भवती सीता को वाल्मीकि ने अपने आश्रम में उसी प्रकार शरण दी जिस प्रकार महर्षि मारीच ने शुकुन्तला को दी थी। उन्होने सीता के पुत्रों के जात कर्मादि संस्कार किये और उन्हें पढ़ा लिखाकर राम को सौंप दिया।

“सखा दशरथस्यापिजनकस्य च मन्त्रकृत् ।
संस्कारोभय—प्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि ॥
साङ्गवेदमध्याप्य किञ्चिदुत्क्रान्त—शैशवौ ।
स्वकृतिं गापयामास कवि—प्रथम—पद्धतिम् ॥”

शकुन्तला के समान सीता भी मुनि के आश्रम में समस्त नियमों का पालन करती हुई रही। वह भी वहां कुटिया में रहती, पुष्प—फल और नीवारादि लाती, घट भर—भर कर वृक्षों को सींचती, वल्कल धारण करती, नियमाभिषेक करती, अतिथि सत्कार करती और स्वयं कन्दमूल फलों से जीवन निर्वाह करती रहीं।

रघु अपने पुत्र अज के द्वारा रो—रोकर अनुरोध करने से दूर वन को तो नहीं गये किन्तु नगर—वास उन्होंने छोड़ दिया और अन्तिम आश्रम को स्वीकार कर निःस्पृह भाव से योग साधना—करने लगे—

“स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथेपुराद् वहिः ।

समुपास्यत पुत्रभोग्यया स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रिया ॥”

आश्रमों की प्रतिष्ठा— आश्रमों के प्रति, जिनकी गोद में चक्रवर्तित्व पलता था, राज्य संस्थाओं की ही नहीं, सामान्यत सामाजिक की भी दृष्टि बड़ी श्रद्धापूर्ण थी। आश्रम के सामान्य जन विद्यार्थी के साथ आदरपूर्ण व्यवहार किया जाता था। शाकुन्तल के पञ्चम अंक में जैसे ही कुञ्चुकी राजा को संदेश देता है कि हिमगिरि की उपत्यका के अरण्य में रहने वाले तपस्वी कण्व का सन्देश लेकर लाये हैं तो राजा सहसा चौंकर पूछता है क्या कण्व के सन्देश वाहक? और तुरंत आदेश देता है कि उपाध्याय सोमरात से कहो कि उनके स्वागत की व्यवस्था श्रौत विधि से करें। मैं भी यज्ञ शाला में आकर उनके दर्शन करता हूँ। वह मन ही मन सोचता है कि क्या किन्हीं विघ्न कारियों ने व्रती तपस्वियों के तप में बाधा पहुंचायी है? या धर्मारण्य में रहने वाले प्राणियों के साथ किसी ने असद् व्यवहार किया है? या मेरे किन्हीं दुष्कर्मा के कारण इनके वृक्षों में फल नहीं लगे हैं? यह चिन्ता स्वाभाविक है क्योंकि आश्रमों की रक्षा का दायित्व राज्य पर था। आश्रम अपनी उपज का छटा भाग निकाल कर राज्य के लिए पृथक् रख देते थे। जब नन्दिनी दिलीप को अपना दुग्ध पीने का आदेश देती है तो दिलीप कहता है कि पहले आपका वत्स पीले, और फिर होम के लिए आवश्यक भाग निकाल लिया जाय। फिर जो कुछ बेचगा, उसे ऋषि की आज्ञा लेकर मैं पी लूंगा क्योंकि अपने द्वारा संरक्षित पृथ्वी की उपज का छटा भाग लेने का मुझे अधिकार है।

शान्त वातावरण वाले आश्रम — आरण्यक तपस्वी अपनी सरल, शान्त वृत्ति में ही सन्तुष्ट रहते थे, उनके लिए नगर में आना एक प्रकार का दण्ड था। कहाँ एकान्त, प्राकृतिक वातावरण और कहाँ नगर का कोलाहल। इसीलिए अभिज्ञान

शाकुन्तल में शाङ्गरव कहता है कि यद्यपि यहाँ कुछ भी दूषित नहीं है। फिर भी निर्जन में रहने का अभ्यस्त होने के कारण इस भीड़—भाड़ में ऐसा लग रहा है जैसे आग से जलता घर हो

“जनाकीर्णं मन्ये हुतवह—परीतं गृहभिव”⁹

आश्रमवासी निर्भय है और स्वाभिमानी भी। इसीलिए जब राजा कहता है कि पशु पक्षियों की स्त्रीजाति बिना पढ़े लिखे ही चालाक होती है, फिर उनमें जो पढ़ी लिखी मानुषी हों, उनका तो कहना ही क्या?

“स्त्रीणामशिक्षित—पटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याःप्रतिवोधवत्यः।”¹⁰
इस पर तापस तुरन्त बोल उठता है—वाह! जिसने बचपन से कभी धूर्तता नहीं जानी उस व्यक्ति की बात अप्रमाणिक और आप (जैसे) जिन लोगों ने दूसरों के ठगने को राजनीति विद्या के रूप में सीखी वे विश्वसनीय, सत्यवादी!

तापसों का सम्मान इतना था कि राजा हो या रानी, देखते ही आसन से उठकर उन्हें प्रणाम करते थे। इसीलिए कञ्चुकी जब पुरुरवा को च्यवनाश्रमवासिनी तापसी के आने की सूचना देता है तो उसके मुख से यही निकलता है—

भगवति! अभिवादये। उर्वशी आती है तो वह भी झुककर बोलती है—आर्ये! पादवन्दनं करोमि! राजा उर्वशी को विदा करके कहते हैं—तत्र भगवते च्यवनाय मम प्रणाम—मावेदयिष्यसि। च्यवन, वसिष्ठ, कण्व, वाल्मीकि तथा कश्यप का कालिदास की कृतियों में बड़ा स्थान है। कालिदास ने आश्रमों की प्रतिष्ठा के संवर्धन के लिए यथाशक्ति यत्न किया है और उन्हें श्रान्त राजन्य की शरणस्थली कहा है। उन्होंने दुष्यन्त के मुख से कहलाया है—“अस्त्येतत् पौरवाणमन्त्य कुलव्रतम्”।

तापस और नृपति—कालिदास के संसार में आश्रम के बिना पत्ता नहीं हिलता। रघुवंश के वंश विस्तार में आश्रम ही कारण है। वशिष्ठाश्रम में निवास और गोसेवा का परिणाम ही थे रघु जो इस वंश के प्रवर्तक हुये। कालिदास ने राम की अपेक्षा कहीं अधिक प्रतिभा और ममत्व का व्यय इनके जीवन—चरित्र के वर्णन में किया है। दिग्विजय के पश्चात् रघु विश्वजित् यज्ञ करते हैं और अपना सर्वस्व दान कर देते हैं उसी समय वरतन्तु का शिष्य कौत्स गुरुदक्षिणा के लिए चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्रायें मांगता है और रघु कुबेर को धमका कर उसके कोष से स्वर्ण मुद्रायें लेकर कौत्स को देते हैं, कौत्स चौदह करोड़ से अधिक न लेने पर अड़े थे और सम्राट उससे अधिक देने पर तुले थे।

जनस्य साकेत—निवासिनस्तौ द्वावत्यभूतामभिनन्द्य सत्त्वौ ।

गुरु—प्रदेयाधिक—निःस्पृहोर्थी नृपोर्थिकामादधिक—प्रदश्च ॥”

अन्त में उस “उस्ट्र—वामी—शत—वाहितार्थ” को लेकर कौत्स चले गये और

जाते-जाते उन्हें पुत्रवान् होने का आशीर्वाद दे गये जिसके फलस्वरूप अज का जन्म हुआ। यह वृत्तान्त अपने स्थान पर महत्वपूर्ण है और आश्रम वासियों के प्रति राज्य के मन में स्थित महती सम्मान-भावना को स्पष्ट करता है किन्तु इससे भी बड़कर महत्वपूर्ण है सम्राट द्वारा बह्मचारी के प्रति प्रदर्शित शिष्टाचार और आश्रम की चिन्ता जो रघु द्वारा व्यक्त की गई।

तमर्चयित्वा विधिवद् विधिज्ञस्तपोधनं मानधनाग्रयायी।

विशांपतिर्विष्टरभाजमारात् कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच।।¹²

कालिदास आश्रम व्यवस्था के वेहद समर्थक थे। उन्हें बौद्ध धर्म के पतन के कारणों की जानकारी थी। वह जानते थे कि गृहस्थ आश्रम की उपेक्षा कर केवल श्रमण और भिक्षु आश्रमों को प्रधानता देने का क्या कुपरिणाम हुआ था। किस प्रकार पाटलिपुत्र के राजमार्ग पर भिक्षाटन करते तीन-तीन हजार भिक्षुओं को देख जनता भयभीत हो उठती थी और किस प्रकार बौद्ध बिहार भिक्षुओं और भिक्षुणियों के बीच चारित्रिक परिवादों के केन्द्र बन गये थे। इसलिये उन्होंने द्वितीय आश्रम को ‘सर्वोपकारक्षम’ कहकर उसका गौरव बढ़ाया। गृहत्याग पर उन्होंने भी बल दिया था किन्तु दाम्पत्य तथा लौकिक सुख भोगकर, सन्तान तन्तु का विस्तार कर, एवं वंश को अविच्छिन्न बनाकर। सन्तानोत्पत्ति को उन्होंने महान कर्तव्य प्रतिपादित किया और सपत्नीक वानप्रस्थ का समर्थन किया। उनके सारे ऋषि और मुनि गृहस्थ हैं। आश्रमों में पत्नियाँ उनके साथ हैं। पुत्र-पुत्रियाँ भी हैं। और करुणा तो बौद्ध विहारों से कहीं अधिक है। विश्व साहित्य में कोमल भावना का इससे बड़कर चित्रण अन्यत्र नहीं मिल सकता-

यस्यत्वया व्रण-विरोपणमिङ्गुदीनां

तैलं न्यषिच्यत मुखे कुश-सूचिविद्धे।

श्यामाक-मुष्टि-परिवर्धितको जहाति

सोयं न पुत्र कृतकः पदवीं मृगस्ते।।¹³

अर्थात्-हरिणशावक की माता बच्चे को जन्म देकर मर गयी है। एक आश्रम कन्या फोहे से दूध पिलाकर उसे पालती है। जब चलने योग्य होता है तो स्वभाव के अनुसार कुशों के अंकुर कुतर-कुतर कर खाने लगता है। कुशों की नोक कंटीली होती है और मृगपोत की जीभ में चुभकर घाव कर देती है। तब वह कन्या इङ्गुदी का तेल लगाकर उसके व्रण का उपचार करती है। कुछ और बड़ा होता है तो अपनी मुट्ठी में नीवार या श्यामक के दाने लेकर उसे खिलाती और बड़ा करती है। वही बालिका जब ससुराल के लिए विदा लेती है तो वह मृगशावक उसका आंचल पकड़कर उसे जाने से रोकता है।

ये हैं कालिदास के आश्रम-स्वस्थ संयत, सन्यस्त जीवन के प्रतीक, पत्नी के सानिध्य में संयम के समर्थक, स्वावलंबी, स्वाभिमानी, राजसत्ता के संकटों के निवारणकर्त्ता, सामाजिक नियमों के प्रवर्तक और लोक मर्यादा के संस्थापक।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1.	रघुवंशमहाकाव्यम्,—	1 / 98
2.	अभिज्ञान शाकुन्तलम्	— 4 / 20
3.	विक्रमोर्वशीयम्	— 5 / 17
4.	रघु.	— 3 / 70
5.	विक्र.	— 5 / 7
6.	शाकु.	— 7-पृ.—496
7.	रघु.	— 15 / 31-33
8.	रघु.	— 8 / 14
9.	शाकु.	— 5 / 10
10.	शाकु.	— 5 / 22
11.	रघु.	— 5 / 31
12.	रघु.	— 5 / 3
13.	शाकु.	— 4 / 14

